International Journal of Arts & Education Research

वर्तमान संदर्भों में कबीर काव्य की प्रासंगिकता

रीना
शोधार्थी, पीएच.डी. हिन्दी,
एनआईआईएलएम विश्वविद्यालय, कैथल

राजेश कुमार,
शोध,निर्देशक
एनआईआईएलएम विश्वविद्यालय, कैथल

प्रस्तावना

आज हिन्दी साहित्य–जगत में नये–नये साहित्यिक आंदोलन जन्म ले रहे हैं, और लेते हैं। इनके बीच सहसा कबीर को क्यों याद किया जाता है? कबीर में ऐसा क्या है जो उन्हें आज के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बना देता है? तथा उन्हें बार–बार याद किया जाता है कि हम सबको कबीर से शिक्षा लेनी चाहिये एवं उनको पहचानना चाहिये। ये सारे के सारे प्रश्न हमारे सामने आ खड़े होते हैं, तब इन सबका उत्तर हमें कबीर के काव्य में देखना होगा कि वे इन सब में कहां तक उपादेय सिद्ध होते हैं?

कबीर ने जीवन और जगत की वास्तविकताओं को पहचाना और जाना भी था। उनका युग–बोध और आत्म–बोध दोनों अत्यंत सूक्ष्म, तकपूर्ण एवं विस्तृत था। उन्होंने जो भी उपदेश दिये हैं वे दूसरों के लिए नहीं अपितु उनके अपने जीवन से छनकर निकली हुई अनुभूति हैं। उनके नैतिक मूल्य बाहर से ओढ़े हुए लबादे नहीं बल्कि उनके जीवन के निष्कर्ष हैं। उनके साहित्य में जो नैतिक तत्व हैं वे संपूर्ण जन–जीवन की सोद्देश्यता की ओर प्रेरित करने वाले हैं उन्होंने जो चेतावनियां दी हैं वे सदैव समाज के लिए कल्याणकारी हैं। कल भी थीं, आज भी हैं और आने वाले समय में भी रहेंगी ऐसी आशा की जाती हैं।

आज हमारे समक्ष जो एक काल खण्ड है और इसकी प्रासंगिकता का अर्थ कल के काल–खण्ड से जुड़ा रहना है, क्योंकि समय निरंतर प्रवाहमान है और कुछ सामाजिक–धार्मिक समस्यायें भी ऐसी हैं जो काल–खण्डों में बंटकर परंपरागत रूप धारण किये हुए हैं कबीर के अविर्भाव के पांच सौ वर्षों से अधिक के अंतराल के बाद भी ऐसा लगता है कि उनकी उपादेयता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। जाति–भेद, वर्ण–भेद, धार्मिक कट्टरता, अंधकार, मोहलिप्सा, अन्तः से अधिक बाह्य चमक–दमक आदि अनेक ऐसी ही विसंगतियां एवं उलझनें समाज में ज्यों की त्यों पूर्ववत व्याप्त हैं। इन्हीं सभी विसंगतियों एवं समस्याओं को केन्द्र में रखते हुए हम कबीर को वर्तमान संदर्भ में देखने का प्रयास करेंगे। कबीर के काव्य में सामाजिक, धार्मिक एवं सांप्रदायिक विसंगतियों एवं समस्याओं को हूबहू देखा जा सकता है। उन्होंने इन समस्त समस्याओं और विसंगतियों के निर्मूलन हेतु जो वाणी प्रस्फुटित की वह आज के संदर्भ में उतनी ही जीवंत एवं उपयोगी सिद्ध होती हैं जितनी वह अपने समय में थीं। अतः इन्हीं विसंगतियों एवं समस्याओं को आधार बनाकर कबीर की प्रासंगिकता को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करेंगे।

वर्ण व्यवस्था :

जिस युग में कबीर का आगमन हुआ उसमें सामाजिक जन–जीवन अस्त–व्यस्त था। चारों ओर सामाजिक एवं नैतिक जीवन कुत्सित और खोखला था। देश की जनता इनसे त्राहि–त्राहि पुकार रही थी। कबीर ने इन सभी विकृतियों एवं विसंगतियों से क्षुब्ध होकर कहा–

हरि कौ नाउँ तत त्रिलोक सार, लौलीन भये जे उतरे पार।।
इक जंगम इक जटाधार, इक अंगि बिभूति करै अपार।।
इक मुनियर इक मनहूँलीन, ऐसे होत–होत जग जात खीन।।
इक औराधैं सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधैं जीव।।
इक कुलदैत्याँ कौ जपहि जाप, त्रिभुवनपति भूले त्रिविध ताप।।
अनंहि छाँडि इक पीवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदैं सूध।।
कहै कबीर ऐसैं बिचारि, राम बिना को उतरै पार।।

मूर्ति–पूजा का विरोध :

कबीर के समाज में मूर्तिपूजा प्रचलित थी जो आज तक चली आ रही है। धर्म के ठेकेदारों ने ईश्वर को मंदिर–मस्जिदों तक ही सीमित कर दिया था। वे यह भूल गये कि मूर्ति तो साधन–मात्र है। उन्होंने साधन को ही साध्य (आराध्य) बना डाला था और यह स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि जितने मानव उतने ही उनके देव हो गये। ऐसे में कबीर ने जनता को भ्रमजाल से निकालकर सचेत करते हुए पत्थर की मूर्तियों को पूजने को निरर्थक सिद्ध कर दिया। उन्होंने बताया कि भला यह पत्थर हमारे किस काम का है इससे तो अपना ही भला नहीं होता तो फिर यह हमारा क्या भला करेगा? वे कहते हैं कि तुम इन पत्थरों को क्यों पूजते हो जो कभी भी तुम्हारा जवाब नहीं दे सकते और तुम इन्हें पूजते फिरते हो ? तुम क्यों अंधे होकर इनसे आशा बंधाये हुए हो तुम्हें इनसे कुछ भी लाभ मिलने वाला नहीं है बल्कि तुम यूं ही संशय में पड़े हो–

पाहन कूँ का पूजिये, जे जनम न देइ जवाब।
अन्धा नर आसामुखी, यों ही खौबे आब।।

कबीर ने जब देखा कि लोग पत्थर को पत्थर न मानकर उसे देव मान बैठे हैं और अपनी–अपनी इच्छानुसार अनेक देवों की कल्पना करके एकेश्वरवाद को नष्ट कर रहे हैं, जिसके कारण सामाजिक एकता नष्ट एवं खण्डित तो हो ही रही थी साथ ही साथ मानसिक सांत्वना के स्थान पर अशांति दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। यह देखकर कबीर ने कहा–

सेवै सालिगराम कूं, मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपने नहीं, दिन–दिन अधकी लाइ।।

कबीर ने जहां एक ओर मूर्ति–पूजा का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है वहीं पर उन्होंने समुचित समाधान के लिए लोगों को बताया कि जिन लोगों का मानसिक स्तर इतना नीचा है कि वे उपासना के लिए आकार को ही अनिवार्य समझते हैं तो उनको संत, साधुओं की सेवा श्रुषा करनी चाहिए जो उनकी अनेक समस्याओं को सुलझाने में सहायक भी सिद्ध हों,

और फिर वे बोल भी सकते हैं ये पत्थर की मूर्तियां न तो बोलती हैं और न इनसे किसी शंका का समाधान हो सकता है–

जैती देषौ आत्मा, तेता सालिगराम।
साधु प्रतिष देव हैं, नहीं पाथर सूँ काम।

वेशभूषा छापा–तिलक का विरोध :

संत कबीर ने लोगों के बाह्याचारों पर कुठाराघात किये वे तिलमिला देने वाले, तर्कसंगत एवं युक्ति युक्त हैं। उन्होंने जिन भी चीजों का विरोध किया वह कोरी भावुकता या कल्पनाशीलता पर आधारित होकर नहीं अपितु उन्होंने बुद्धितत्व के ठोस धरातल पर पूर्णतः कसकर किया है, और यही वजह है कि कबीर के बखान के सम्मुख लोगों का निरुत्तर रह जाना एवं दांतों तले उंगलियां दबा लेना भर ही रह जाता है। उनके यही उपदेश एवं व्याख्यान पहले की तरह आज भी ज्यों के त्यों लोगों पर लागू होते हैं। आज भी कबीर के उन उपदेशों एवं विचारों की जरूरत है। आज भी लोग जगह–जगह पर ऐसे मिल जाते हैं जो छापा, तिलक, माला, जटा, त्रिशूल, जनेऊ मृगछाला आदि धारण करते मिल जाएंगे लेकिन उनका अन्तःकरण अपवित्र एवं दूषित होता है। ऐसे लोग जनता को भ्रम में डालकर छलते हैं। कबीर ने ऐसे लोगों की बड़ी ही निर्भीकतापूर्वक कलई खोली है, और वे उन पर बड़ा ही करारा व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि लोग हाथ में माला लिये भगवान को रिझाने जा रहे हैं भला भगवान कोई शिशु तो है नहीं जो उनके जैसे पाखण्डियों के बहकावे में आ जाये–

माथे तिलक हथि माला बाना, लोगन रामु खिलउना जाना।'

कबीर ने माला जैसे बाह्याचार को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए बताया कि लोग माला को हाथ में लेकर स्वयं को कितना बड़ा भक्त समझते हैं और लोगों को अपने चंगुल में किस तरह फंसाते हैं ? भला माला मात्र के पहनने से या हाथ में घुमाने से भगवान की प्राप्ति संभव है ? यदि ऐसा होता तो सबसे पहले कुऐं के अंदर पानी खींचने वाले रहट को भगवत्प्राप्ति होती–

कबीर माला मन की, और संसारी भेष।
माला पहन्या हरि मिलें, तो अरहट के गलि देव।।

कबीर कहते हैं कि मात्र बाह्याचारी वैष्णव बनने से क्या लाभ ? केवल छापा–तिलक लगाकर लोगों को ठगना अच्छा नहीं है। यदि तुम अपने को वैष्णव कहलवाना अच्छा और पसंद करते हो तो सुनो! पहले तुम्हें अपना विवेक जगाना होगा यदि तुम ऐसा नहीं करते तो तुम फिर लोगों को भुलावे में ही डालने वाले होगे–

बैसनों भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक।।

कथनी की अपेक्षा करनी पर बल :

कबीर की वाणियों में कथनी और करनी की एकता थी। उन्होंने व्यावहारिक आचरण की दृष्टि से दूसरों को उपदेश देने से पहले स्वयं को उन उपदेशों पर कसा, और वे इस दृष्टि से पूर्ण खरे उतरे। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि मैं जो

कुछ कहता हूं वह सर्वप्रथम अपने लिये ही, मैं जब–जब दूसरों को बुरा देखने के लिये निकलता हूं तब–तब मैं स्वयं को ही बुरा पाता हूं–

बुरा जो देखन मैं चल्या, बुरा न दीषा कोइ।
जे दिल खोजा आपनां, मुसझा बुरा न कोइ।।

कबीर ने अपने सम्पूर्ण जीवन का साक्षात् एवं प्रत्यक्ष प्रमाण देकर समाज के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया। इसीलिये इनकी कथनी और करनी में कहीं भी लेसमात्र अंतर नहीं मिलता। कबीर ने जो कहा वे उस पर पूर्णतः खरे उतरे। कबीर का इस आदर्श पर खरा उतरना इस बात का प्रमाण है कि उन्हें हिन्दुओं एवं मुसलमानों दोनों ने ही अपनाया और उनसे पर्याप्त प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्राप्त किया। लेकिन इन्होंने उन लोगों को कड़वी–कषैली खूब सुनाई जो कहते तो बहुत कुछ थे लेकिन उनकी करतूत कुछ और ही थी। ऐसे लोगों की उन्होंने खूब अच्छी खबर ली है। कबीर ने ऐसे लोगों के बारे में तो यहां तक कहा कि जो लोग अपनी कथनी करनी में एकता लाते हैं वे भगवान के निकट जा पहुंचते हैं और जो ऐसा नहीं करते उनकी दशा कुत्तों के समान होती है जो यमपुर के बंधनों में जा बंधते हैं–

जैसी मुख ते नीकसै, तैसी चाले चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल।।
जैसी मुख तै नीकसै, तैसी चाले नाहिं।
मानुष नहीं ते स्वानगति, बांधे जमपुर जांहि।।

बहुदेवोपासना का विरोध :

कबीर कालीन समाज में मुख्यतः दो ही धर्म थे– हिन्दू और इस्लाम। जहां हिन्दू बहुदेववाद के जंजाल में फंसे थे वहीं मुसलमान एकेश्वरवाद के मार्ग से भटक चुके थे। इससे समाज की स्थिति बिगड़ती ही चली जा रही थी। ऐसे में किसी संत महात्मा की आवश्यकता थी जो उन्हें ईश्वर के सच्चे स्वरूप का ज्ञान करा सके। ऐसे ही समय में संत कवि कबीरदास का आविर्भाव हुआ जिन्होंने मानववाद को स्थापित करने के लिए एकेश्वरवाद के उपदेश दिये। इनका कहना था कि जब समाज का प्रत्येक प्राणी एक ईश्वर में आस्था रखेगा तभी समाज का उत्थान हो सकेगा और साथ ही सामाजिक एकता भी स्थापित हो सकेगी अन्यथा समाज में वर्ग–भेद, समुदाय जन्म ले लेंगे और स्थिति पतनोन्मुखी होने लगेगी। कबीर ने बहुदेवोपासना जैसी भ्रांत धारणाओं को जड़ से समाप्त करने का जो व्रत लिया उसके लिए वे जीवनपर्यंत प्रयासरत रहे और उन्होंने पर्याप्त भ्रांत विचारों को समाज से निकाला भी–

कहै कबीर भरम सब भागा।
एक निरंजन सूं मन लागा।।

कबीर का मानना है कि जो लोग बहुत से देवी–देवताओं में विश्वास, आस्था जताते हैं उनके अंदर कभी भी एकनिष्ठता की भावना जागृत नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में उन लोगों की दशा वैश्या के पुत्र के समान होती है जिसे यह भी नहीं ज्ञात कि उनका मूल पितृ कौन है ? जब इन लोगों का कोई एक निश्चित आराध्य देव नहीं होता और ये बहुत से देवों

को इसीलिये मानते हैं कि जिनसे इनके अनेक अभावों की पूर्ति अलग–अलग देवों से हो सके, जो एक देव के अतिरिक्त कोई कर ही नहीं सकता परन्तु इन लोभी, लालचियों का मन एक स्थान पर केन्द्रित ही नहीं होता तो क्या किया जाय ? तब तो इन्हें वैश्या पुत्र कहना ही समीचीन होगा–

राम पियारा छाँड़ि करि करै आन का जाप।
वेश्या केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूँ बाप।।

कबीर ने बहुदेवोपसाना का घोर विरोध कर एकेश्वरवाद की स्थापना की। उन्होंने एक ईश्वर पर विश्वास करने तथा परम परमेश्वर से जीवों के कल्याण की भावना को लोगों के मस्तिष्क में बैठाने का भरसक प्रयास किया। उन्होंने एकेश्वरवाद की स्थापना के लिये तद्युगीन मठाधीशों से जो प्रतिशोध लिया यह उनकी निर्भीकता एवं क्रांतिकारिता का परिचायक है। इसीलिये तो डॉ. शेर सिंह विष्ट का कथन बड़ा ही सटीक है कि

''कबीर अपने युग के निविड़ अज्ञानरूपी अंधकार का विषपान करके भक्तों को ज्ञानरूपी प्याले में प्रभु की प्रेम भक्ति का अमृतपान कराने वाले भारत के सुकरात थे।''

तीर्थ–यात्रा का विरोध :

कबीर कालीन समाज में व्याप्त बाह्याचारों में हिन्दुओं की तीर्थ–यात्रा तथा मुसलमानों की हज–यात्रा भी एक थी। लोग पहले तो अनेक दुष्कर्म कर लेते हैं और फिर बाद में पश्चाताप स्वरूप अपने पापों को धोने के लिये गंगा, जमुना, हज–काबा की ओर उन्मुख होते हैं जिससे उन्हें मुक्ति की प्राप्ति हो सके। यह ठीक है कि किसी तीर्थ पर जाकर वहां की पावन नदी में स्नान करना और हज–काबा जाने से पुण्य होता है लेकिन उसके बाद भी यदि मनुष्य में तनिक भी परिवर्तन न हो सके तो फिर भला ऐसे तीर्थाटनों, यात्राओं से क्या लाभ ? फिर तो उसे कुछ भी प्राप्त न हो सका अर्थात् उसने वहां जाकर व्यर्थ ही अपना समय गंवा दिया। यदि वहां जाकर उसके हृदय में पवित्रता, सरलता, सहजता एवं साधुत्व आता है तभी उसकी तीर्थ आता है तभी उसकी तीर्थ यात्रा सफल एवं सार्थक मानी जा सकती है अन्यथा नहीं। लेकिन कबीर ने अपने खुले नेत्रों से व्यवहार जगत में देखा कि लोग हज–यात्रा, तीर्थयात्रा, गंगा–स्नान आदि जाते हैं लेकिन अंतःकरण में फिर भी अपवित्रता, कुटिलता एवं कूटनीतिज्ञता आदि का त्याग नहीं हो पाता। ऐसे लोगों का कबीर ने खूब उपहास किया और उन पर उन्होंने व्यंग्य–वाणों की घनघोर बौछार की। कबीर बताते हैं कि लोगों को तीर्थयात्रा पर जाते–जाते एक जमाना हो गया और गंगा में डूब–डूबकर नहाते–नहाते बहुत समय बीत चुका लेकिन लोगों को अंत में कुछ भी हाथ न लगा बल्कि जितने लोगों ने तीर्थाटन या गंगा–स्नान किया वे सभी के सभी इन बाह्याचारों में फंस–फंसकर मर गये लेकिन मूल तत्व (राम) को नहीं पहचाना तो फिर अंत में कालरूपी मृत्यु ने आकर उन्हें आ दबोचा–

तीरथ करि करि जग मुवा, डूबे पाँणी न्हाइ।
रामहिं राम जपंतड़ा, काल घसीटयाँ जाइ।।

कबीर में जप, तप, तीर्थ–व्रत, उपवास इत्यादि को सारहीन और निस्सार माना है वे कहते हैं जो लोग इन सब झंझटों में पड़ते हैं वे अपना समय उसी प्रकार व्यर्थ कर देते हैं जिस प्रकार शुक (तोता) सेमल के फूल के पास बैठा अपना समय

व्यतीत कर देता है और अन्ततः उसे फल नहीं मिलता बल्कि उसे निराशा ही हाथ लगती है। इसी प्रकार संसारी लोग आडम्बरों के पीछे लगकर निराश ही होते हैं उन्हें उनसे कोई भी लाभ प्राप्त नहीं होता इसीलिये कबीर कहते हैं–

जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूबै सैंबल सेबिया, यौं जब चल्या निरास।।

अवतारवाद का विरोध :

संत महात्मा कबीर ने अवतार का खण्डन कर समाज को सजग एवं सचेत किया। उनका लक्ष्य जनता को अवतारवाद के स्वरूप के प्रति सावधान करना था। अपने इस लक्ष्य में कबीर काफी सीमा तक सफल भी हुए। परन्तु यह बात बहुत ही विचित्र लगने वाली है कि कबीर ने जिस अवतारवाद का खंडन किया इन्हीं के अनुयायियों ने उनके मरने के बाद ही कबीर को अवतारी रूप दे दिया और उनको अपना गुरू मानकर उनका गुरू–पूजन करना शुरू कर दिया। अर्थात् उन लोगों ने कबीर को अवतार मान लिया, लेकिन यदि कबीर जीवित रहे होते तो वे इसे कदापि स्वीकार नहीं करते।
कबीर ने स्वयं अपने विषय में बताया कि मैं इस संसार में नाना विधानों एवं रूपों को देखने के लिए आया था लेकिन ईश्वरीय कृपा से मुझे ऐसे गुरु मिल गए जिन्होंने मुझे परम ब्रह्म से जाकर मिला दिया जिसका स्वरूप अनुपम है–

आया था संसार में देषण कौं बहुरूप।
कहै कबीरा संत ही, पड़ि गया नजरि अनूप।।

कबीर ने अवतार का जो विरोध किया है उसमें उन्होंने किसी अवतार–राम, कृष्ण या मुसलमानों के पैगम्बरों को बुरा–भला नहीं कहा अपितु उन्हें ईश्वर समझकर पूजने लगना जैसी भ्रांति का खण्डन किया है। कबीर ने अवतारवाद का जो विरोध किया है, उसमें उन्होंने किसी, पीर, पैगम्बर या अवतारी की निंदा नहीं की बल्कि उससे समाज में जो वैमनस्यता व्याप्त थी उसको समूलतः नष्ट करने और जनता को सतपथ पर लाने के लिए ही इन्होंने अवतारों का खण्डन किया, जो परम आवश्यक था। यदि वे ऐसा न करते तो जनता और भी अधिक दिग्भ्रमित होकर पारस्परिक कलह एवं कलेश में पिसती रहती और इस तरह समाज पतनोन्मुख की ओर अग्रसर होता। स्वयं कबीर के प्रतिष्ठित एवं मर्मज्ञ आलोचक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी भी 'कबीर' नामक ग्रंथ में सगुण, साकार, अवतार का विरोध कर उसे भ्रम सिद्ध करते हुए कहते हैं–

''वस्तुतः सोपाधिक ब्रह्म भ्रममात्र है, ठीक उसी तरह तो नहीं जिस तरह सीपी को चांदी समझ लेने वाले का भ्रममात्र है, असल में वह आर्यभ्रम है, फिर भी गलती से यदि कोई सीपी को चांदी समझ ले तो भी सीपी सीपी ही रहेगी, चांदी नहीं हो जाएगी। इसी प्रकार निर्गुण और निरुपाधि ब्रह्म को जब हम गलती से सगुण और सोपाधि मान लेते हैं तब भी हम वस्तुतः भ्रम में होते हैं, ब्रह्म तो निर्गुण का निर्गुण और निरुपाधि का निरुपाधि ही बना रहता है।''

वेद, शास्त्र, पुराणों की उपेक्षा :

मध्ययुगीन समाज वर्गों में विभक्त था। समाज के तथाकथित नेता आज की ही भाँति भिन्न–भिन्न वर्गों को बढ़ावा दे रहे थे और साथ–साथ विभिन्न धर्म–ग्रंथों को आधार बनाकर उस वर्गीकरण को आवश्यक एवं धर्म–संगत बतलाकर

पारस्परिक वैमनस्य की भावना को और भी पुष्टता देने में लगे हुए थे। धर्म के ठेकेदारों ने स्वनिर्मित पाखण्डों एवं आडम्बरों का उत्तरदायित्व भी धर्मग्रंथों पर छोड़ दिया जिसके कारण सामाजिक विश्रृंखलता ही नहीं बढ़ रही थी अपितु बाह्यचारों तथा नाना विधानों से लोगों का समय व्यर्थ के झमेलों में व्यतीत हो रहा था। विभिन्न धर्मों के गुरू अपनी–अपनी इच्छानुसार धर्म–ग्रंथों की भिन्न–भिन्न व्याख्या कर रहे थे। इन विभिन्न धर्मावलंबियों का विश्वास अलग–अलग ग्रंथों में भिन्न–भिन्न था। यही सभी मूल कारण थे जो समाज में विषमता को जन्म दे रहे थे।
तद्युगीन जनता भी शिक्षित न होने के कारण इन धर्मावलंबियों के व्याख्यानों को सुनकर उनकी अनुगामी बनी हुई थी। अतः पोथी ज्ञान के इस प्रपंच को धार्मिक नेताओं ने दिन–प्रतिदिन बढ़ावा ही दिया। ऐसे धार्मिक नेताओं की संख्या अनगिनत हो चली थी। इस विषय में डॉ. मोती सिंह लिखते हैं,

''साधकों तथा संतों (कबीर) ने पुस्तकों के ज्ञान और पांडित्य को सदैव ही शंका और अविश्वास की दृष्टि से देखा था, कारण यह कि ज्ञान कुछ थोड़े से व्यक्तियों की धरोहर था। आम जनता यदि शिक्षित भी रही हो तो वह तत्वज्ञान संबंधी इन सूक्ष्म भेदों से उदासीन अवश्य रही। इस प्रकार पांडित्य मुट्ठी भर लोगों की निधि होने के कारण सामान्य जनता के शोषण का कारण बन गया।''

इस प्रकार समस्त बुराइयों को देखकर संतों (कबीरादि) ने ही पोथी ज्ञान का खण्डन किया हो ऐसा नहीं है बल्कि उनसे भी पूर्व संतों के प्रेरणास्रोत द्विों ने भी इनका खण्डन जोरदार शब्दों में किया है। मुनि रामसिंह कहते हैं ''हे पंडित, कणों को छोड़कर तूने भूसी को ही कूटा है। ग्रंथ और उसके अर्थ में तुझे संतोष है, किन्तु हे मूढ़ परमार्थ से तेरा परिचय नहीं। मूर्ख तूने बहुत पढ़ लिया तो क्या? ज्ञान की चिनगारी को पढ़ जो प्रज्वलित होते ही पुण्य और पाप दोनों को एक क्षण में भस्म कर देती है–

पंडिय पंडिय पंडिया कणु छंड़िवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि, परमत्थुण जाणहि मूढ़ो सि।
णाण तिडिक्की सिक्ख बढ़किं पढ़यहं बहुएण।
जा सुधुक्की णिड़हइ, पुराण वि पाउ खणेण।

समाज में पंडितों और मुल्लाओं ने वेद–पुरान शास्त्र आदि धर्म–ग्रंथों का सहारा लेकर समाज में बाह्याडम्बरों और पाखण्डों को जन्म दे रखा था और यह स्थिति रात–दिन अधिकाधिक होती चली जा रही थी। कबीरादि जैसे संतों ने इन कुत्सित और घृणित कार्यों को रोकने का प्रयास किया और भोली भाली जनता को बाह्याडम्बरों के पंक से बाहर निकाला–

हिन्दू–मुसलमान दीन सरहद बने, वेद कितेब परंच साजी।

समाज सुधार की भावना :

कबीर के अनुसार व्यक्ति को सदाचरणशील और गुणवान होना चाहिए जिससे वह समाज में अपने इन गुणों के कारण समाज को परिष्कृत एवं परिमार्जित कर सके। जिस प्रकार चंदन का वृक्ष अपने पास स्थिर आक और पलाश के पेड़ों को अपने जैसा कर देता है अर्थात् उन्हें भी अपने गुणों से आप्लावित कर देता है–

कबीर चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक पलास।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास।।

समाज में एकता को प्रतिष्ठित करने वाला और समाज के विकास के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने वाला व्यक्ति ही व्यक्ति है। कबीर ने तो अपने घर–परिवार सब को इसके लिए त्याग दिया, उन्होंने अपनी ही भांति अपने सर्वस्व को त्यागने और समाज को उन्नयन एवं उन्नति प्रदान करने के लिये अनेक लोगों को प्रेरित एवं प्रोत्साहित करते हुए उन लोगों को आह्वान किया–

हम घर जाल्या आपणां लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौं तासु का, जे चलै हमारे साथि।।

कबीर ने समाज में फैले हुए वर्ग वैषम्य एवं पारस्परिक मतभेदों को समूलतः नष्ट करते हुए न किसी को उच्च बताया और न किसी को हीन। अपितु उन्होंने एक अल्लाह के नूर (ज्योति) से सबको उत्पन्न मानते हुए स्पष्ट कहा–

अव्वल अल्लह नूर उपाया, कुदरत के सब बंदे।
एक नूर ते सब जन उपज्या, कौन भले कौन मंदे।।

विद्यार्थी समाज :

मानव समाज में विद्यार्थी जीवन की अपनी महत्ता है। यही विद्यार्थी भावी नागरिक, भावी समाजसेवी एवं भावी देशभक्त बनता है। वह समाज की आधारशिला है। आधुनिक युग की शिक्षा–पद्धति ने तो विद्यार्थी एवं शिक्षक के आदर्श एवं निश्चल स्वरूप को धूल–धूसरित ही कर डाला है। प्राचीन समय की शिक्षा–पद्धति में शिक्षा का आदर्श यह था कि विद्यार्थी में आध्यात्मिक एवं मानवीय गुणों का विकास किया जाता था। गुरु–शिष्य संबंध को समस्त संबंधों में उच्च, सर्वोत्तम एवं पवित्रतम माना जाता था। महात्मा कबीर का समय भी गुरु–शिष्य के पवित्रतम संबंध पर आधारित था। शिष्य अपने गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा एवं अनन्यनिष्ठा का भाव अपने हृदय में रखता था–

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावड़हार।।

जहाँ कबीर ने गुरु को श्रद्धायुक्त वचनों से विभूषित किया है वहीं पथभ्रष्ट और पाखण्डी गुरु की घोर निंदा करते हुए शिष्य को सचेत किया है कि यदि वह उसके निकट जायेगा तो वह भी पतनोन्मुखी होगा–

जाका गुरु भी अंधला, चेला निरा निरंध।
अंधहिं अंधा ठेलियां, दून्यूँ कूप पड़ंत।।

उनका मानना था के शिक्षा का लक्ष्य है विद्यार्थियों में दिव्य गुणों का विकास करना। वे कहते हैं–

''शिक्षा से मेरा अभिप्राय यह है कि बच्चे और मनुष्य के बीच शरीर, बुद्धि और आत्मा के सभी उत्तम गुणों को प्रकट किया जाय।

संदर्भ सूची :

1. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, क.ग्रं., पृ. 161–162
2. वही, पृ. 34
3. वही, पृ. 34
4. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, क.ग्रं., पृ. 34
5. सं. डॉ. रामकुमार वर्मा, संत कबीर, पृ. 211
6. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, कबीर ग्रंथावली, पृ. 35
7. वही, पृ. 36
8. वही, पृ. 51
9. वही, पृ. 30
10. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, क.ग्र., पृ. 5
11. वही, पृ. 5
12. सं. डॉ. एम. फीरोज अहमद, वाङ्मय, अप्रैल–जून (2005) ई–3, पृ. 82
13. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, कं.ग्र. पृ. 29
14. वही, पृ. 35
15. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, क. ग्रं, पृ. 11
16. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ. 111
17. डॉ. मोतीसिंह, निर्गुण साहित्य, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ. 112
18. संत सुधासार, खण्ड–1, पृ. 21
19. कबीर ज्ञान गूदड़ी, पृ. 16
20. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, क.ग्रं, पृ. 20
21. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, क.ग्रं. पृ. 53
22. वही, पृ. 203
23. सं. डॉ. श्यामसुंदरदास, क.ग्रं., पृ. 1
24. वही, पृ. 2
25. सर्वोदय, गांधी जी, अमृतलाल नागावटी, न.प्र., पृ. 292